www.ijarp.com ISSN 2456-9992 Page: 01-12

International Journal Advanced Research Publications

Research Article

Volume: 02
Issue: 10

समकालीन हिंदी कविता और सांस्कृतिक चेतना: धर्म, बाजारवाद तथा भूमंडलीकरण से संवाद

***डॉ. नितिन भीका पाटील**

सहायक प्राध्यापक, भाषा विभाग, क्राइस्ट (डीम्ड टू बी यूनिवर्सिटी), बी.वाई.सी. परिसर, बेंगलुरु – 560073.

Article Received: 20 September 2026, Article Revised: 10 October 2026, Published on: 30 October 2026

***Corresponding Author: डॉ. नितिन भीका पाटील**
सहायक प्राध्यापक, भाषा विभाग, क्राइस्ट (डीम्ड टू बी यूनिवर्सिटी), बी.वाई.सी. परिसर, बेंगलुरु - 560073.
Doi: https://doi-doi.org/101555/ijrpa.6422

शोध-सार

संस्कृति किसी समाज की उस सामूहिक जीवन-दृष्टि का नाम है जो सदियों के अनुभवों, परंपराओं और मूल्यों के प्रवाह से निर्मित होती है। इतिहास, कला, भाषा, साहित्य, धर्म और सामाजिक व्यवहार, सब इसके अंतर्गत समाहित होते हैं। संस्कृति स्थिर नहीं, प्रवाहमय है; वह अपने दोषों का त्याग कर नए प्रगतिशील तत्वों को स्वीकार करती चलती है। समकालीन हिंदी कविता इसी सांस्कृतिक प्रवाह की साक्षी है। प्रस्तुत शोध-आलेख में समकालीन हिंदी कविता के सांस्कृतिक एवं धार्मिक संदर्भों का विश्लेषण किया गया है। अरुण कमल, कुमार अंबुज, सत्यपाल सहगल, कुमार विकल और मंगलेश डबराल की चयनित कविताओं के आधार पर यह अध्ययन करता है कि कवियों ने भारतीय संस्कृति की समन्वयकारी एकता, पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण, धर्म की विकृति, सांप्रदायिकता, बाजारवाद तथा भूमंडलीकरण जैसे प्रश्नों को किस प्रकार अभिव्यक्त किया है।

आलेख में सबसे पहले भारतीय संस्कृति के महत्व को रेखांकित किया गया है। अरुण कमल की 'हाट' और कुमार अंबुज की 'चँदेरी' जैसी कविताओं में बाजार तथा परंपरागत शिल्प के चित्रण के माध्यम से संस्कृति के जीवंत स्वरूप को देखा गया है। इसके पश्चात पाश्चात्य जीवन-शैली के अंधानुकरण पर सत्यपाल सहगल जैसे कवियों के व्यंग्य का विवेचन किया गया है। धर्म की विकृति और सांप्रदायिकता के प्रश्न पर कुमार विकल, कुमार अंबुज और सहगल की कविताओं का विश्लेषण यह दर्शाता है कि धर्म के नाम पर स्वार्थी तत्व समाज को बाँटते हैं, जबकि हिंसा में बहने वाला रक्त किसी धर्म या जाति का नहीं होता।

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि समकालीन कवि संस्कृति को स्थिर धरोहर नहीं, बल्कि प्रवाहमय जीवन-पद्धति मानते हैं। वे धर्म के नाम पर होने वाले शोषण, पहचान-आधारित पूर्वाग्रह और सांप्रदायिक हिंसा का प्रखर विरोध करते हैं तथा बाजार की चकाचौंध में हाशिये पर धकेले गए छोटे व्यापारियों, मजदूरों, किसानों और स्त्रियों के पक्ष में खड़े होते हैं। मंगलेश डबराल और कुमार अंबुज की कविताएँ दिखाती हैं कि बाजारवाद ने चमत्कारों के उत्पादन को सबसे बड़ा व्यापार बना दिया है और उसकी चकाचौंध में साधारण कामगार उपेक्षित हो गए हैं। 1991 के बाद के भूमंडलीकरण ने जहाँ विकास के नए मार्ग खोले, वहीं मनुष्य को परिवार, समाज और स्वयं से विच्छिन्न भी किया, जिसे कवियों ने गहरी संवेदना के साथ दर्ज किया है।

इन कवियों की दृष्टि न परंपरा के प्रति अंध-मोह की है, न आधुनिकता के प्रति अंध-विरोध की। वे संस्कृति के विकृत तत्वों की आलोचना करते हुए सत्य, अहिंसा, समानता और मानवीयता जैसे मूल्यों को बचाए रखने का आग्रह करते हैं। निष्कर्षतः समकालीन हिंदी कविता सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति मात्र नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना जगाने वाला सशक्त माध्यम है, जो पाठक को अपने समय की विसंगतियों के प्रति सजग, संवेदनशील और विवेकशील बनाता है।

मुख्य शब्द: समकालीन हिंदी कविता, सांस्कृतिक चेतना, धर्म की विकृति, सांप्रदायिकता, बाजारवाद, भूमंडलीकरण, पाश्चात्य संस्कृति, हाशियाकरण

समकालीन हिंदी कविता और सांस्कृतिक चेतना: धर्म, बाजारवाद तथा भूमंडलीकरण से संवाद

संस्कृति किसी समाज की उस सामूहिक जीवन-दृष्टि का नाम है जो सदियों के अनुभवों, परंपराओं, आस्थाओं और मूल्यों के संचित प्रवाह से निर्मित होती है। इतिहास, कला, भाषा, साहित्य, धर्म और सामाजिक व्यवहार, सब इसके अंतर्गत समाहित होते हैं, इसीलिए इसकी कोई परिपूर्ण परिभाषा देना कठिन है। रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार संस्कृति जिंदगी जीने का एक तरीका है, जो सदियों में संचित होकर समाज में व्याप्त रहता है और जिसे हम अपनी संतानों को विरासत के रूप में सौंप जाते हैं। संस्कृति स्थिर नहीं, प्रवाहमय है। वह अपने दोषों का त्याग कर नए प्रगतिशील तत्वों को स्वीकार करती चलती है। इसी कारण हर युग में संस्कृति का स्वरूप कुछ बदलता है, फिर भी उसकी मूल धारा अविच्छिन्न बनी रहती है। संस्कृति के साथ धर्म का संबंध अत्यंत घनिष्ठ रहा है। धर्म ने मानव समाज को नैतिक आधार, सामूहिक आस्था और जीवन-मूल्य प्रदान किए हैं। किंतु डॉ. रोहिताश्व जैसे चिंतकों के मतानुसार आज धर्म का सामान्य अर्थ सांप्रदायिकता से लिया जाने लगा है, और विघटनकारी शक्तियों ने उसे राजनीति तथा शोषण का माध्यम बना लिया है। इस प्रकार जो धर्म कभी समाज को जोड़ने वाला

तत्व था, वही आज विभाजन का साधन बनता दिखाई देता है। सत्य, अहिंसा और समन्वय जैसे भारतीय सांस्कृतिक मूल्य इस विकृति के कारण संकट में हैं।

समकालीन हिंदी कविता अपने समय के सांस्कृतिक और धार्मिक यथार्थ से गहराई से जुड़ी हुई है। भूमंडलीकरण, बाजारवाद, उपनिवेशवादी मानसिकता और पाश्चात्य प्रभाव के वर्तमान दौर में कवि केवल निजी अनुभूतियों के गायक नहीं रह गए हैं, बल्कि समाज के सजग प्रहरी की भूमिका निभा रहे हैं। एक ओर धर्म का प्रयोग सांप्रदायिकता, राजनीति और शोषण के साधन के रूप में हो रहा है, दूसरी ओर बाजार की चकाचौंध मनुष्य की सोच और संबंधों को नियंत्रित करने लगी है। पाश्चात्य जीवन-शैली के अंधानुकरण से पारंपरिक मूल्यों और पारिवारिक ढाँचे में परिवर्तन आ रहा है। ऐसी स्थिति में कविता सांस्कृतिक चेतना की वाहक बनकर उभरती है और पाठक को अपने परिवेश पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित करती है। अरुण कमल, कुमार अंबुज, सत्यपाल सहगल, कुमार विकल और मंगलेश डबराल जैसे कवियों की रचनाओं के आधार पर यह विश्लेषण किया गया है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के महत्व, पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण, धर्म की विकृति, सत्य-अहिंसा और सांप्रदायिकता, बाजारवाद तथा भूमंडलीकरण जैसे प्रश्नों को किस प्रकार अभिव्यक्त किया है। इन कवियों ने कहीं सीधे कथन, कहीं व्यंग्य और कहीं बिंब-विधान के माध्यम से अपने समय की विसंगतियों को उजागर किया है। उनकी कविताओं में बाजार में खड़ा साधारण मनुष्य, चँदेरी की साड़ी बुनने वाला कारीगर, सड़क पर बहता रक्त और सुबह-सवेरे काम पर निकलता आम आदमी, सब सांस्कृतिक यथार्थ के जीवंत चित्र बनकर आते हैं।

संस्कृति शब्द अपने आप में इतना व्यापक है कि इसकी कोई परिपूर्ण परिभाषा कर पाना संभव नहीं। इतिहास, कला, परंपरा, भाषा, समाज, धर्म, साहित्य आदि सभी बातों को अपने अंतर्गत समाविष्ठ कर संस्कृति का प्रतिफलन होता है। संस्कृति प्रवाहमय है जो बुरे गुण-दोष त्यागकर नए विकासवादी या प्रगतिवादी तत्वों का स्वीकार करती है। रामधारी दिनकर के मतानुसार, "असल में संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते है। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए है अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते है। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है, तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभव का हाथ है।" (दिनकर, पृ. सं. 13) हिंदी कवियों ने अपनी कविताओं में भारतीय संस्कृति के साथ पाश्चात्य संस्कृति को भी वर्णित किया है। वे बाजारवादी और उपनिवेशवादी संस्कृति से समाज को भली भाँति परिचित कराते हैं।

संस्कृति के साथ कवियों ने धर्म तथा अन्य विषयों को भी अपनी कविता में स्थान दिया है। धर्म के संदर्भ में हर किसी की अपनी एक अलग मान्यता होती है। किन्तु आज धर्म का प्रयोग सांप्रदायिकता तथा समाज के विघटन के लिए हो रहा है। डॉ. रोहिताश्व के मतानुसार, "समकालीन जीवन में धर्म का सामान्य अर्थ सांप्रदायिकता से लिया जाता है, जबकि वर्ण-जाति संबंधी अवधारणाएँ प्रकारान्तर से वर्ग-संघर्ष की बुनियाद है। पाश्चात्य और पौर्वात्य देशों के धर्म में हमेशा प्रगतिशील तत्व रहे हैं पर विघटनकारी सामन्ती शक्तियों ने धर्म को राजनीति व शोषण का माध्यम भी बनाया है। वे सामन्ती पूंजीवादी शक्तियों को वर्तमान काल में भी विभिन्न रूपों में, युगीन चेतना को भौथरा बनाने, इतिहास, समाज व मानव समुदायों के विघटन में धर्म का कूटनीतिक प्रयोग करती है, इनके पीछे उनके अपने वर्गीय हित होते है।" (रोहिताश्वर, पृ. सं. 65) कवियों ने ऐसी ही संकुचित दृष्टिकोण वाली शक्तियों वर्गीय का विरोध अपनी कविताओं में दर्शाया है।

संस्कृति का केंद्रीय बिंदु मनुष्य है। मनुष्य के आचार, विचार, क्रिया-कलाप, परंपरा, सभ्यता आदि सभी तत्वों का संस्कृति के अंतर्गत समावेश होता है। "हमारी संस्कृति का सबसे बड़ा तत्व विभिन्न जीवन प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। विशाल भारतीय संस्कृति के अंदर अनेक छोटी-छोटी संस्कृतियाँ हैं, किन्तु उनमें एकमानता है।" (सिंह परमानंद, पृ. सं. 113) इसी संस्कृति की एकमानता को समकालीन कवियों ने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है। इन्होंने अपने समाज से जुड़ी उन परंपराओं का चित्रण किया है जो संस्कृति की ओर सीधे इशारा करती हैं। साथ ही इन्होंने भारत की संस्कृति का महत्व स्पष्ट करते हुए उसमें उपनिवेशवादी और बाजारवादी संस्कृति को भी दर्शाया है। अरुण कमल ने अपनी 'हाट' नामक कविता में बाजार की संस्कृति को स्पष्ट करते हुए कहा है-

"बाजार में बहुत सन्नाटा था
सारा संसार काँच के पार
और मैं शीशे से नाक सटाये" (कमल, पृ. सं. 20)

उसी प्रकार कुमार अंबुज ने अपनी कविता 'चँदेरी' में भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण परिधान को स्थान देकर संस्कृति का दर्शन कराया है। वे कहते हैं-

"चंदेर मेरे शहर से बहुत दूर नहीं है
मुझे दूर जाकर पता चलता है
बहुत माँग है चंदेर की साड़ियों की

x x x

मेरे शहर और चंदेर के बीच
बिछी हुई है साड़ियों की कारीगीरी
इस तरफ से साड़ी का छोर खींचो तो
दूसरी तरफ हिलती है चंदेर की गलियाँ" (अंबुज, पृ. सं. 23)

समकालीन कवियों ने संस्कृति को समाज का अविभाज्य तत्व माना है। संस्कृति के महत्व को प्रतिपादित करते हुए इन्होंने उसके अंशतम रूप तक का परिचय दिया है।

संस्कृति की बात करें तो उसमें गुण और दोष दोनों तत्वों का समावेश मिलता है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती है। किन्तु आज के आधुनिक दौर में नई संस्कृति जन्म ले रही है। पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के अंधानुकरण से भारतीय जनमानस के विचारों में विकृति परिलक्षित हो रही है। सामान्य मनुष्य पाश्चात्य संस्कृति को आत्मसात कर उसके अनुकरण में रत है। वह एकल परिवार, लिव-रिलेशन, होमो जेण्डर, फैशन आदि बातों को अपना रहा है। किन्तु दूसरी ओर हिंदी के कवि इसके प्रति सजग हैं। वे लगातार व्यंग्यात्मक टिप्पणियों के माध्यम से प्रहार कर रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण हर तरह से समाज के लिए घातक है इसे समकालीन कवि बड़ी बेबाकी से सामने रख रहे हैं। सत्यपाल सहगल ने अपनी कविता 'शीला का दु;ख' में नव युवकों के माध्यम से एक लड़की का दु;ख व्यक्त कर पाश्चात्य संस्कृति पर व्यंग्य कसा है। वे कहते है,

"मोटर सायकल पर जाती है लड़कियाँ
पीछे बैठ कर
और मोटर-सायकल चलाते है लड़के
चलता है यह क्रम
पूरे अध्ययन-वर्ष
शीला के सामने"(सहगल, पृ. सं. 52)

इस प्रकार हिंदी कवियों ने संस्कृति के विनाशक तत्वों पर टिप्पणी कर समाज को एक सरल और स्वस्थ संस्कृति से परिचित करने का प्रयास किया है। पाश्चात्य सभ्यता पर कटाक्ष कर वे अपनी संस्कृति को दूषित होने से बचाना चाहते हैं।

संस्कृति का सबसे सशक्त रूप धर्म माना गया है। धर्म ने सदियों से मानव समाज को नैतिक अनुशासन, सामूहिक आस्था और सहअस्तित्व की भावना प्रदान की है। भारतीय परंपरा में धर्म केवल पूजा-पद्धति नहीं, बल्कि जीवन जीने की वह व्यवस्था रही है जो मनुष्य को करुणा, सत्य और अहिंसा की ओर ले

जाती है। संस्कृति के विविध तत्वों, जैसे भाषा, कला, साहित्य और परंपरा, को एक सूत्र में बाँधने का कार्य भी बहुत हद तक धर्म ने ही किया है। किंतु वर्तमान समय में धर्म अपने मूल उद्देश्य से भटककर राजनीति, सत्ता और स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनता दिखाई देता है। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा, भेदभाव और पूर्वाग्रह ने समाज की एकता को गहरी चोट पहुँचाई है। समकालीन हिंदी कवि इस विकृति के प्रति अत्यंत सजग हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में न केवल धर्म के दुरुपयोग को उजागर किया है, बल्कि उसके शिकार साधारण मनुष्य के पक्ष में भी आवाज़ उठाई है। इस खंड में कुमार विकल और सत्यपाल सहगल जैसे कवियों की रचनाओं के आधार पर यही विश्लेषण प्रस्तुत है।

मानव ने धर्म की आधारशिला पर जिस समाज की नींव रखी थी, आज वही आधारशिला विकृत हो रही है। पूँजीपति, शोषक, राजनेता तथा उच्च वर्ग समाज के पीड़ित और कमजोर वर्ग पर धर्म के नाम का प्रहार कर अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे हैं। समकालीन कवियों ने ऐसे निजी हित साधने वाले तथा धर्म का अनुचित प्रयोग करने वाले तत्वों के प्रति स्पष्ट विरोध प्रदर्शित किया है। उनकी कविताएँ यह उजागर करती हैं कि धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा और भेदभाव का सबसे अधिक शिकार साधारण और निर्धन व्यक्ति ही होता है।

कुमार विकल जैसे कवि कार्ल मार्क्स के उस प्रसिद्ध विचार का समर्थन करते हैं जिसमें धर्म को "अफीम" कहा गया है। मार्क्स की दृष्टि में धर्म जनता को यथार्थ की पीड़ा से विमुख कर नशे जैसी निष्क्रियता में डुबो देता है। विकल इस विचार को और आगे ले जाकर दिखाते हैं कि यही नशा हिंसा का रूप भी धारण कर लेता है,

"मैं चिल्लाऊंगा
मजहब अफीम की ऐसी गोली बन जाती है
जो इन दिनों
एकदम बंदूक की गोली बन जाती है
जो दनदनाती हुई आती है
पार्क में खेल रहे बच्चों
छँटनी मजदूरों
रिक्शा चालकों
राशन की दुकान पर खड़े लोगों को
लहूलूहान कर जाती है
मजहब एक गाली है

जो हर धर्म ग्रंथ में
पाकीजगी के नकाबों में छिपी रहती है" (विकल, पृ. सं. 34)

धर्म और ईश्वर के प्रति अंधश्रद्धा निर्मित कर व्यक्ति को अंधकारमय विकृत खाई में ढकेला जा रहा है। धर्म के नाम पर मालाजाप, तिलक लगाना, दाढ़ी रखना आदि विकृतियों को कवियों ने अपने काव्य में प्रस्तुत किया है। सत्यापल सहगल अपनी कविता 'मुसलमान' में कहते हैं-

"वह तो गुजराती ही था
मैं उसे समझा मुसलमान
पंजाब में मैंने उसे समझा बहुत मुसलमान
गुजरात में तो मुझे वह इसलिए नजर आ गया
क्योंकि कमबख्त ने दाढ़ी रखी थी" (सहगल, पृ. सं. 33)

समकालीन कवि धर्म के विकृत रूप को पूर्ण रूप से मिटाकर एक नए समाज की आशा रखते हैं। उनका यह नया समाज प्रगतिशील और चेतनासंपन्न होगा, जिसमें धर्म शोषण का नहीं, बल्कि मानवीयता और सहअस्तित्व का आधार बनेगा।

सत्य और अहिंसा दोनों ही भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्व माने जाते हैं। मानव के नैतिक मूल्यों में इन तत्वों को अग्रिम स्थान प्राप्त है। आदिकाल से आधुनिक काल तक का साहित्य देखा जाए तो जहाँ अन्याय, अत्याचार तथा सांप्रदायिकता की बात कही गईं वहीं साहित्यकारों ने सत्य और अहिंसा जैसे तत्वों की दुहाई देकर लोगों को ठगने वाले अत्याचारी तत्वों का विरोध भी किया है। समकालीन हिंदी कवियों ने भारतीय संस्कृति के महत्व को उजागर करते हुए सांस्कृतिक तत्वों का परिचय अपनी कविताओं में दिया है। समाज में फैली अराजकता, असंतोष, जातिवाद की भावना, उच्च-नीचता का व्यवहार तथा सांप्रदायिकता आदि को समाज के घातक तत्व कहकर उनकी निंदा की है। सांप्रदायिकता के घेरे में आज पूरा समाज बह रहा है। अपनी स्वार्थपूर्ण लालची वृत्ति के लिए धर्म के ठेकेदार जनता को भड़काकर दंगे करवाते हैं। इन सबमें जिनके प्राण जाते हैं, जिनका लहू बहता है, क्या उनसे कोई पूछता है कि वे कौन-से धर्म को मनाने वाले थे? कुमार विकल सवाल उठाते हैं-

"यह जो सड़क पर खून बह रहा है
इसे सूँघकर तो देखो
और पहचानने की कोशिश करो

यह हिन्दू का है या मुसलमान का
किसी सिख का या ईसाई का
किसी बहन का या भाई का" (विकल, पृ. सं. 28)

सांप्रदायिकता का न कोई चेहरा होता है न ही कोई धर्म या जाति। सांप्रदायिकता केवल हिंसा लगी तलवार की धार से रक्त का प्रवाह बहाना जानती है। जाति तो केवल धर्म के ठेकेदार ही पूछते हैं क्योंकि उनको अपना वर्चस्व स्थापित करना है-

"बताओ अपने धर्म
और वंशावली के बारे में
किस मस्जिद किस मंदिर किस गुरुद्वारे में
किस चर्च में करते हो तुम प्रार्थनाएँ
तुम्हारी नहीं तो अपने पिता
अपने बच्चों की जाति बताओ" (अंबुज, पृ. सं. 37)

समकालीन हिंदी कवि सत्य एवं अहिंसा के पुजारी हैं, वे सांप्रदायिकता जैसी कूट बातों का प्रखर विरोध करते हैं और समाज को इन सब स्वार्थ लोलुप जनों के खेल से अवगत करना चाहते हैं।
भूमंडलीकरण के दौर में सूचना एवं प्रोद्योगिकी के क्षेत्र में आए परिवर्तनों से संपूर्ण विश्व एक गाँव (Global Village) की संज्ञा पा चुका है। लुभावने ब्रांड, नए उत्पादन, सुख-सुविधाओं का समान, फैशन आदि को प्रदर्शित करने के लिए विश्व बाजार में इंटरनेट, टेलीविजन, ई-मेल आदि का बहुतायत में उपयोग होने लगा है। विश्व को सुख-सुविधाएँ प्रदान करने हेतु बाजारवाद विश्व के समक्ष है। जिससे पूरे विश्व में धर्म, संस्कृति, दर्शन, साहित्य, सभ्यता सभी चीजें, विचार और विश्वास प्रभावित हो रहे हैं। समाज में बाजार ने ऐसा रूप धारण कर लिया है कि हम विश्वास नहीं कर पाते कि हम बाजार के विषय में सोच रहें हैं या बाजार हमें सोचने के लिए विवश कर रहा है। बाजारवाद का प्रभाव समाज पर गहरा रहा है। इस दौर में किसान, मजदुर, मध्यम वर्ग आदि सभी बाजारवाद की जद में हैं। इसने स्त्री को केवल शोभा की वस्तु के रूप में ढाल दिया है। उसकी आंतरिक भावनाओं तथा उसकी इच्छाओं को अनदेखा किया जा रहा है। पूंजीपति अपने वैयक्तिक स्वार्थ तथा धन कमाने हेतु किसान और मजदूरों को मोहरा बना रहे हैं। समाज का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो बाजारवाद की चपेट में न हो। इसने सभी को अपने प्रवाह में बहने के लिए मजबूर कर दिया है। समकालीन हिंदी कवियों ने बाजार के इस विद्रुप चेहरे को पहचाना है। भूमंडलीकरण के नाम पर चलाए जा रहे इस गोरखधंधे की पड़ताल अपनी

कविताओं के माध्यम से की है। बाजारवाद की चकाचौंध से सामान्य मनुष्य को बचाने का प्रयास किया है। 'क्रूरता' नामक कविता संग्रह में कुमार अंबुज ने बाजार की इसी चकाचौंध का वर्णन किया है। बड़े-बड़े मॉलों तथा शो-रूमों की जगमगाती रोशनी से छोटे-छोटे काम करके पेट भरने वालों की लगातार अवहेलना हो रही हैं जिसे बताते हुए कवि लिखता है-

"गरज़ यह कि पूरा बाजार सामान और खरीदारों से
इस कदर दमक रहा था
कुछ इस तरह व्यस्त था
कि दिन की आखरी घड़ी में ग्राहक खोजता हुआ
कोने में बैठा वह मोची हास्यास्पद हो गया था
जो बार-बार अपने हाथों में घुमा रहा था पॉलिश की डिबिया
और सस्ते बिस्किट-गोलियाँ बेचती उस बुढ़ियाँ ने तो
समेट ही लिया था अपना खोखा"(अंबुज, पृ. सं. 26)

बाजारवाद ने छोटे व्यापारियों पर भी पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। बड़े शॉपिंग मॉल, शो-रूम, तथा एक छत के नीचे जैसी संकल्पनाओं से फुटकर व्यापारी तथा मजदूरी पेशा लोग हाशियाकृत हो रहे हैं। आज बाजारवाद के दौर में महँगाई आसमान छू रही है। मंगलेश डबराल ने बाजारवाद में उत्पादन को स्पष्ट करते हुए उसके मूल्य को शून्य कहा है। वे कहते हैं-

"जो लोग सिर्फ सहमी-सी आँखों से देखते रहते हैं
वे भी जानते हैं कि यहाँ रखी चीजों का कोई विकल्प नहीं है
फर्क सिर्फ यह है कि जो कुछ आम तौर पर
जिस तरह दिखता है वह उस तरह नहीं होता
यह बाजार का एक ठोस आध्यात्मिक आधार है
इसलिए चमत्कारों का उत्पादन सबसे बड़ा व्यापार है" (डबराल, पृ. सं. 58)

हिंदी कवियों ने बाजारवादी संस्कृति का विरोध किया है। जहाँ-जहाँ सामान्य मनुष्य को परेशानियों का सामना करना पड़ता है, वहाँ-वहाँ कवि उसका मार्ग प्रदर्शित करने का दायित्व निभाता है। समकालीन कवियों ने बाजारवाद के आधुनिक दौर में यह कार्य पूर्ण ईमानदारी और सफलता के साथ निभाया है तथा समाज में चेतना प्रवाहित की है।

भारत में भूमंडलीकरण की शुरुआत 1991 में हुई जब कांग्रेस के नरसिंह राव ने आर्थिक संकट के नाम पर अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज लिया। 24 जुलाई 1991 में इस ऐतिहासिक निर्णय को संसद में पेश कर एक नये पर्व की शुरुआत हुई। "आजादी रात 12 बजे मिली थी, लेकिन उससे तकरीबन 44 साल बाद जो सुबह आई उसने एक नयी उद्योग नीति की घोषणा की और बने बनाए ढांचे को एक ही झटके में कुछ अवशेषों में बदल दिया। इसी दिन दोपहर के बाद संसद में नया केंद्रीय बजट पेश किया गया, जिसमें एक ऐसे अर्थतंत्र का आकार-प्रकार बनना शुरू हुआ जो राजनीति से नियंत्रित होने के बजाय उसे नियंत्रित करने की इच्छा से लैस था। चार दशक से ज्यादा की अवधी में जिस राष्ट्रीय राजनीतिक-सामाजिक संस्कृति की रचना हुई थी एक पल में उसकी बागडोर ऐसे हाथों में चली गयी जो शुद्ध रूप से भारतीय हाथ नहीं थे। यह भारत के ग्लोबलाइजेशन यही भूमंडलीकरण की शुरुआत थी।" (दुबे, पृ. सं. 21) भूमंडलीकरण से आये बदलाव का असर समाज, राजनीति, अर्थ, संस्कृति के साथ अन्य क्षेत्रों पर भी रहा। परिवर्तन की इस एक लहर ने विकास के नये मार्ग खोल दिये। भूमंडलीकरण से आये बदलावों से साहित्य भी अछूता न रहा। समकालीन हिंदी कवियों ने अपनी कविताओं में इन बदलावों तथा उसके प्रभावों का चित्रण किया। आधुनिकता और उदरवादिता के साथ नई तकनीक तथा नये आर्थिक परिदृश्य का भाष्य लिखा।

समकालीन हिंदी कवियों ने भूमंडलीकरण के दौर में शीघ्रता से हो रहें परिवर्तन को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया। संस्कृति, राजनीति, समाज संबंधों, स्त्री, दलित, आदिवासी, किसान आदि सभी विषयों पर कलम चलाई। इन कवियों ने भूमंडलीकरण से दैनिक जन-जीवन पर पड़ रहें प्रभावों को भी अभिव्यक्त किया। इस दौर में कवियों ने उस मनुष्य का चित्रण किया जो कुछ पाने हेतु सुबह-सवेरे निकल पड़ता है। कवि जानना चाहता है कि वे कौन हैं-

"एक कार, एक मनुष्य, एक सायकल,
वे कौन हैं जिन्हें कहीं जाना होता है सुबह सुबह
जो खोलने जाते हैं शहर के सभी द्वार
नेपथ्य में ही सुनाई देते हैं जिनके स्वर
जो संदेश वाहकों कि तरह सूचनाएँ देते और पहुँचाते जाते हैं" (सहगल, पृ. सं. 15)

भूमंडलीकरण के इस दौर में भले ही मनुष्य पूरी दुनिया से जुड़ रहा है, परंतु इस आपा-धापी में वह अपने परिवार, समाज और स्वयं से अलग भी होता रहा है। समकालीन कवियों ने भूमंडलीकरण की यथार्थ स्थिति का परिचय देकर समाज को जागृत करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि समकालीन हिंदी कविता सांस्कृतिक और धार्मिक प्रश्नों से गहरे स्तर पर जुड़ी हुई है। कवियों ने भारतीय संस्कृति की समन्वयकारी एकता को रेखांकित किया और उसे समाज का अविभाज्य तत्व माना। परमानंद सिंह के शब्दों में विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और समन्वय ही भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा तत्व है, और यही दृष्टि इन कवियों की रचनाओं में प्रतिफलित होती है। अरुण कमल की 'हाट' में बाजार के सन्नाटे और काँच के पार खड़े मनुष्य का चित्र है, तो कुमार अंबुज की 'चँदेरी' में साड़ी की कारीगरी के माध्यम से एक शहर और उसके शिल्प की सांस्कृतिक पहचान उभरती है। ये दोनों कविताएँ बताती हैं कि संस्कृति केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि श्रम, परंपरा और दैनिक जीवन में निरंतर जीवित रहने वाला प्रवाह है।

पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण के प्रश्न पर सत्यपाल सहगल जैसे कवियों ने व्यंग्य को अपना माध्यम बनाया। 'शीला का दुःख' जैसी कविताओं में बदलते सामाजिक व्यवहार पर की गई टिप्पणी समाज को सचेत करती है कि बिना विवेक के किया गया अनुकरण सांस्कृतिक विकृति को जन्म दे सकता है। इन कवियों का उद्देश्य अपनी संस्कृति को दूषित होने से बचाना और समाज को एक सरल, स्वस्थ जीवन-दृष्टि से परिचित कराना है। धर्म की विकृति और सांप्रदायिकता के प्रश्न पर कवियों का स्वर विशेष रूप से मुखर रहा है। कुमार विकल ने मजहब को अफीम की उस गोली के रूप में देखा जो बंदूक की गोली बनकर निर्दोषों को लहूलुहान करती है। उन्होंने यह प्रश्न भी उठाया कि सड़क पर बहता खून हिंदू का है या मुसलमान का, इसे कोई कैसे पहचानेगा। कुमार अंबुज ने धर्म और जाति पूछने वाली मानसिकता पर प्रहार किया, जबकि सहगल ने दाढ़ी जैसे बाह्य प्रतीकों के आधार पर गढ़े गए पूर्वाग्रहों को बेनकाब किया। इन कविताओं से स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता का न कोई चेहरा होता है, न धर्म, और धर्म के ठेकेदार अपने वर्चस्व और वर्गीय हितों के लिए समाज को बाँटते हैं।

बाजारवाद और भूमंडलीकरण के संदर्भ में कवियों ने विकास की चमक के पीछे छिपे यथार्थ को उजागर किया। अंबुज की कविता में जगमगाते बाजार के कोने में बैठा मोची और खोखा समेटती बुढ़िया उन लोगों के प्रतीक हैं जिन्हें इस चकाचौंध ने हाशिये पर धकेल दिया है। मंगलेश डबराल ने बाजार के उस 'आध्यात्मिक आधार' को पहचाना जिसमें चमत्कारों का उत्पादन ही सबसे बड़ा व्यापार बन गया है। 1991 के बाद आए आर्थिक परिवर्तनों ने जहाँ विकास के नए मार्ग खोले, वहीं छोटे व्यापारी, मजदूर, किसान और स्त्री जैसे वर्गों की उपेक्षा भी बढ़ाई। मनुष्य पूरी दुनिया से जुड़ने की होड़ में अपने परिवार, समाज और स्वयं से कटता चला गया। कवियों ने इसी विडंबना को अपनी चिंता के केंद्र में रखा। इन कवियों की दृष्टि न परंपरा के प्रति अंध-मोह की है, न आधुनिकता के प्रति अंध-विरोध की। वे संस्कृति के प्रवाहमय स्वरूप को स्वीकार करते हुए उसके विकृत तत्वों की आलोचना करते हैं और सत्य, अहिंसा, समानता तथा मानवीयता जैसे मूल्यों को बचाए रखने का आग्रह करते हैं। उनकी

कविता एक ओर शोषक और स्वार्थी शक्तियों का विरोध करती है, दूसरी ओर साधारण मनुष्य के पक्ष में खड़ी होकर उसे मार्ग दिखाने का दायित्व निभाती है।

निष्कर्षतः समकालीन हिंदी कविता केवल सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना जगाने वाला सशक्त माध्यम है। वह पाठक को अपने समय की विसंगतियों के प्रति सजग करती है और उसे अधिक संवेदनशील, विवेकशील तथा मानवीय बनने की प्रेरणा देती है। इस दृष्टि से इन कवियों का योगदान हिंदी साहित्य और भारतीय समाज, दोनों के लिए महत्वपूर्ण है।

सदर्भ:

1. अंबुज, कुमार. *किवाड़.* आधार प्रकाशन, 1992.
2. अंबुज, कुमार. *क्रूरता.* राधाकृष्ण प्रकाशन, 1996.
3. कमल, अरुण. *नये इलाक़े में.* वाणी प्रकाशन, 1996.
4. डबराल, मंगलेश. *आवाज़ भी एक जगह है.* वाणी प्रकाशन, 2000.
5. दिनकर, रामधारी सिंह. *सांस्कृतिक भाषा और राष्ट्र.* लोकभारती प्रकाशन, 2008.
6. दुबे, अभय कुमार, संपादक. *भारत का भूमंडलीकरण.* वाणी प्रकाशन, 2003.
7. रोहिताश्वर. *समकालीन कविता और सौंदर्य बोध.* वाणी प्रकाशन, 1996.
8. विकल, कुमार. *निरूपमा दत्त मैं बहुत उदास हूँ.* आधार प्रकाशन, 1993.
9. सहगल, सत्यपाल. *कई चीजें.* आधार प्रकाशन, 1995.
10. सिंह, परमानंद. *इतिहास दर्शन.* मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस, 2017.